जय झरोटिया का समकालीन कला के विकास में योदान

प्राप्तिः 18.02.26
स्वीकृतः 03.03.26

10

डॉ. मनोज कुमार
कला अध्यापक,
राजकीय उच्च माध्यमिक बाल विद्यालय,
22–बी, देव नगर, नई दिल्ली
ईमेलः *manojgbss@gmail.com*

सारांश

कला और कलाकार परस्पर पूरक होते हैं। जिस प्रकार 'कला' कलाकार का पोषण करती है। उसी प्रकार कलाकार अपनी विशिष्ट कला से समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त कर पाता है। दूसरी ओर कालकार कला के किसी माध्यम का अपनी रूचि के अनुरूप चयन कर उसके संवर्धन और विकास में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। इसीलिए कहा भी गया है कि 'कला' को जो 'आकार' दे, उसे ही 'कलाकार' कहा जाता है। कलाकार कला को आकार देने, उसका संवर्धन और विकास में नयी चेतना और संकल्पनाओं का सूत्रपात भी करता है। कलाकार अपने चित्रों के माध्यम से सामाजिक चेतना और विकास में सकारात्मक विचारों का निष्पादन करता है और समाज में निहित नकारात्मक तथ्यों पर रंग और रेखा के माध्यम से आघात भी करता है। कारण यह है कि कलाकार भावनात्मक रूप से अधिक संवेदनशील होता है। वह हर उस बात पर ध्यान देता है, जिसे एक सामान्य व्यक्ति विस्मृत कर देता है। उदाहरण के लिए सड़क के मध्य में बैठे कुछ पशु। यह एक सामान्य के लिए। परन्तु कलाकार के लिए यह कोई दृश्य नहीं अपितु एक घटना है, जिसमें उसे संवेदनओं के साथ–साथ अनेक सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष दिखाई देते है। इस सामान्य–सी दिखने वाली घटना को कभी वह सामज से जोडकर देखता है, तो कभी जीवन से। वास्तविकता ये है कि सामान्य व्यक्ति इस दृश्य को देखता मात्र है और उसे विस्मृत कर देता है, परन्तु कलाकार अपनी दृष्टि के साथ–साथ दृष्टिकोण का मार्ग भी अपनाता है। परिणामतः उसे वह दृश्य घटना के रूप में दिखाई देती है और अपने दृष्टिकोण के माध्यम से कलाकार उसे सामाजिक, राजनैतिक, धर्मिक, आर्थिक, मानवीय चेतना, स्त्री सामाजिक स्थिति, जीवन की संवदना, मानव की पशुता और पशुओं की मानवता और ऐसे अनेकानेक अर्थों में चित्रित कर देता है।

मूल बिन्दु

समकालीन यथार्थवाद, मानवीय संवेदना, आधुनिक चित्रात्मक भाषा, सामाजिक चेतना, भारतीय अनुभव–बोध, रूपात्मक नवाचार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कला–शिक्षा में योगदान

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.10

कलाकार भी एक सामाजिक प्राणी ही होता है, वह भी समाज में रहते हुए पिता, पुत्र, गुरू, विद्यार्थी आदि सम्बन्धों का निवाह करता है। कलाकार में भौतिकवादी और दर्शनवादी विचारधारा का भी समावेश होता है, जिसके कारण उसके भीतर निरन्तर किसी–न–किसी विषय पर आत्मा–मंथन चलता रहता है। साथ ही एक कलाकार के भीतर उसके विशिष्ट गुण के रूप में सौन्दर्य के प्रति आसक्ति भी होती है। वास्तव में सौन्दर्य ही भाव का मूल कारक तत्व है। इसका सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव से कलाकार अपनी कला को अर्थ और गंभीरता प्रदान कर पाता है। ये सभी गुण कलाकार को नित नवीन संकल्पनायें प्रदान करते है। जिनका उद्घाटन वह अपने रंगों, रेखाओं, विषयों और इस सभी के संयोजन के माध्यम से आकृति के रूप में करता है। इस प्रकार कालकार अपनी संकल्पनाओं, विचारों, भावाभिव्यक्तियों के माध्यम से समाज की समसयाओं को उजागर करता है, तो कभी समाज के भविष्य को संवारने का अभिनव प्रयास करता रहता है।[1]

चिचकार जय झरोटिया के द्वारा सामकालीन कला को दिए योगदान का विवेचन किया जा रहा है। जयजी के विषयों में व्यक्तिगत संवेदना है, तो दूसरी ओर समाज की व्यथा–कथा और कहीं–कहीं नारी की पीडा भी दिखाई देता है। एक पुत्र और एक पिता के रूप में अपने पारिवारिक दायित्वों का पूरा करने के साथ–साथ विद्यार्थी के रूप में अपने शिक्षको के मार्ग पर चलते हुए एक गुरू के रूप में जयजी से जुडे वे सभी पक्ष यहाँ अध्ययन और विवेचन का विषय हैं, जिसके कारण कला के विकास में सहायता मिली और इसके सुखद भविष्य का मार्ग निश्चित हो सका।

एकाग्रचित्त–

जयजी के स्वभावतः गंभीर प्रवृत्ति के थे। शोधार्थी की जयजी पहली मुलाकात दिल्ली कला महाविद्यालय में ही हुई, जहाँ उन्होंने परीक्षक के तौर पर शोधार्थी से विषय संबंधी चर्चा की थी। दूसरी मुलाकात, जयजी के घर पर हुई। दोनों एक–दूसरे से परिचित थे, अतः सबकुछ सहज था। जयजी ने इधर–उधर की कोई बात नही की, न ही परीक्षक के तौर पर, और न ही सामान्य कोई बातचीत की, जैसे–कैसे हो, कब आये इत्यादि। उन्होंने सीधे अपने काम की ओर इशारा किया। वे उस समय कुछ बना रहे थे, उसे मेरी ओर बढ़ा दिया। लगभग एक घण्टे की मुलाकात में उन्हेंने अपने बहुत से काम दिखाये और कला पर चर्चा होती रही। उनके स्वभाव में न अल्हड़पन था और न ही उनकी बातों से कहीं भी गर्व झलक रहा था। वे पूरी तरह से सामान्य और सहज थे।[2] ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे हम पहले भी कई बार मिल चुके है। इस मुलाकात और इसके बाद की सभी मुलाकातों में एक बात जो स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, वह है उनका एकाग्रचित्त होकर काम करना। काम करते ही रहना और केवल कला की ही बात करना। दूसरी बात यह है, कि वे हमेशा अपने विषय की खोज में रहते थे। खेजी प्रवृत्ति होने के कारण उन्हें हर वह दृश्य आकर्षित करता था, जिसे सामान्यतः लोग–अंदाज़ कर जाते हैं।

जयजी की कला के प्रति आसक्ति और उनकी एकाग्रचित्तता को लक्षित करते हुए कलाकार एवं कला–समीक्षक प्रयाग शुक्ल ने जयजी के साथ व्यतीत समय की चर्चा करते हुए बताया, कि– जयजी ने कला महाविद्यालय में जितना निष्ठा के साथ अपने छात्रों को शिक्षा प्रदान की है, उतनी एकाग्रती और गंभीरता से उन्होंने कला महाविद्यालय के वातावरण का एक कलाकार की दृष्टि से लाभ भी लिया।[3] क्योंकि कला महाविद्यालय के वातावरण का एक कलाकार की दृष्टि से लाभ भी

लिया। क्योंकि कला महाविद्यालय का महौल कला की दृष्टि से बहुत ही अच्छा था, एक अच्छा कलाकार वही है जो ऐसे अवसर का लाभ उठाये और जयजी ने भी वही किया। क्योंकि वह कला का कॉलेज है। जहाँ कला सिखाई जाती है और उससे एक वातावरण बनता है। सामुहिक रूप से कुछ होने का बोध होता है। शिक्षण यहाँ–वहाँ टहल रहे है, एक–दूसरे से मिल रहे हैं। ये कितने अच्छा माहौल है। मैंने तो ये माहौल बस देखा है, लेकिन जयजी ने इसे जिया है पूरी तरह से। वो अक्सर कॉलेज समान्त हो जाने के बाद भी अपने स्टूडियो में, अपने कमरे में काम करते रहते थे। अपने काम के प्रति उनकी एकाग्रता देखते ही बनती थी। आज के विद्यार्थियों के लिए यह प्रेरणादायी है।

एक अन्य घटना की चर्चा करते हुए प्रयाग शुक्ल ने बताया कि– मुझे याद है, एक बार जेराम भाई (प्रसिद्ध चित्रकार जेराम पटेल) आए हुए थे, उनकी इच्छा हुई कि हम जयजी से मिलें। पहले हम मंजीत जी मिलने गये, पर वो वहाँ नहीं मिले, फिर जेराम जी ने कहा– के चलो जय झरोटिया के यहाँ चलते हैं। हम जय के यहाँ पहुँचे तो उस समय 7 या 8 बजे रहे थे रात के और वो काम कर रहे थे। मतलब सुबह सोकर उठने उनके मन–मास्तिष्क में चलता ही रहता था। बहुत कम होते है ऐसे कलाकार, इस तरह काम करने वाले।[4]

सौमित्र मोहन भी जयजी की कार्यशैली और उनके काम के प्रति एकाग्रता से काफी प्रभावित रहे हैं। उन्होंने साक्षात्कार के दौरान बताया कि–जय जो थे वो बहुत काम करते थे। शायद थोडे ही लोक जिनकी आउटपुट इतनी ज्यादा होती है। थोडे समकालीन जो हमारे कलाकार है, उनमें दिल्ली मे रहने वाले काफी चर्चित है, जैसे– सूजा, उनमें से एक है। और दूसरे बहुत से है, जैसे– रामचन्द्रन्, वो भी दिन में पांच से दस ड्राईंग बना लेते है। इसी प्रकार जय भी एक दिन मे दस से पन्द्रह ड्राईंग बना लेता था। एक जुनून था, उसमें एकाग्रता थी अपने काम के प्रति। किस दिशा में हम कह रहे हैं और दिमाग में जो चल रहा है, तो उससे एक नयी सृष्टि एक नया सृजन लगातार हो रहा है।[5] जयजी की काम के प्रति एकाग्रता और डेडिकेशन को हम ऐसे समझ सकते है, कि वो एक बार किसी ऑबजेक्ट का या व्यक्ति का या पशु का ड्राईंग बना लेने के बाद उसको तसल्ली नहीं होती थी। उसे लगता था, कि इसके मल्टीपल एक्सप्रेशन्स होने चाहिए। इसलिए एक जगह या एक ही व्यक्ति का उसके पास कम–से–कम एक दर्जन ड्राईंग है। तो ये जो प्रभाव है, अलग–अलग दिशाओं से या एंगल से, ऑबजेक्ट को एक्सप्रेस करने की आदत है वो जयजी को बड़ा आर्टिस्ट बनाती है। उसकी तसल्ली एक बार लेने से नहीं होती थी। तो ये एक सच्चे कलाकार के वो गुण, अपने काम के प्रति एकाग्रता और समर्पण, जैसे आज कल के बच्चों को सीखनी चाहिए। जयजी की कार्यशैली ही समकालीन कला को एक योगदान है, मै ऐसा मानता हूँ।[6]

जयजी अधिकांशतः रेखांकन किया करते थे। उन्होंने शोधार्थी को चर्चा के दौरान बताया था, कि वे प्रतिदिन प्रातः काल उठने के बाद चाय के साथ अपनी स्केच बुक में कुछ–न–कुछ रेखांकित करते थे। यह उनकी नियमित दिनचर्या थी। जिसे जयजी ने आजीवन अपनी सभी सामान्य आदतों की तरह बनाये रखा। उनका मानना था कि सुबह–सुबह मन तरोताजा होता है। ऐसे में काम करने से नई संकल्पनायें आकार लेती हैं और इसके बाद सारा दिन नई–नई संकल्पनाओं और विचारों को बुनता हुआ बीतता है। जयजी का मानना था कि एक कलाकार के लिए यह बहुत जरूरी

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.10

है, कि सर्वप्रथम वह अनुशासित हो, क्योंकि अनुशासित रहकर ही वह अपने काम में एकाग्र हो सकता है।[7] एक शिक्षक और एक कलाकार के रूप में जयजी ये सिद्धान्त कला, कलाकार सामज और विशेष रूप से विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य हैं।

परम्परा का निर्वाह–

पाम्परा से तात्पर्य स्थापित पद्धतियों का यथानुरूप निर्वाह करने से है। जयजी ने भी अपनी परम्परा का सदैव निर्वाह किया है। सर्वप्रथम उन्हेंने एक पुत्र के रूप में अपने माता–पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के साथ पारिवारिक दायित्वों को निर्वहन करते हुए संघर्षमयी जीवन को सम्पन्नता की ओर ले जाने में अहम भूमिका निभाई। परिवारिक दायित्वों की पूर्ति के लिए उन्होंने साईन बोर्ड पेन्ट करने का काम भी तथापि उन्होंने पारिवारिक प्रतिष्ठा और मर्यादा कभी खंडित नहीं होनी दी।[8] जयजी कामों में उनके पारिवारिक जीवन और माता–पिता से जुडे भावात्मक रेखांकन सहज ही दिखाई देते हैं। वे कभी–कभी अपने परिवार से दूर नहीं हुए, किसी भी रूप में।

विद्यार्थी के रूप में उन्होंने सदैव अपने गुरूाओं का सम्मान और आदर किया। जयजी के गुरूओं में प्राणनाथ मागो, राजेश मेहरा, रामेश्रवर बरूटा जैसे वरिष्ठ गुरू और चित्रकार थे। जयजी ने अपने गुरूओं से कला की शिक्षा प्राप्त करने के साथ–साथ उनके द्वारा स्थापित परम्परा को भी आत्मसात् किया। कहीं–न–कहीं शिष्य में गुरू की छाया दिखाई देती है। उन्होंने प्राणनाथ मागों की क्लेरिटी ऑफ माईण्ड से प्रभावित रहे हैं और ये बात उनकी कामों में तथा काम के प्रति उनकी एकाग्रता में स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। राजेश मेहरा से जयजी भावनात्मक रूप से प्रभावित थे। क्योंकि राजेश मेहरा ने उन्हें चित्रों के भावनात्मक पक्ष का सजीव चित्रण करने की शिक्षा प्रदान की थी। जयजी के चित्रों को यदि देखे, तो उनमें भी भाव सम्प्रेषण करने की शिक्षा प्रदान की थी। जयजी के चित्रों को यदि देखे, तो उनमें भी भाव सम्प्रेषण का अभ्द्रता क्षमता दिखाई देती है। रामेश्वर बरूटा से जयजी, उनके पोट्रेट बनाने की पद्धति से प्रभावित थे। भले ही कुछ समय बाद बरूटा जी ने कॉलेज ऑफ आर्ट छोड़ दिया परन्तु जयजी ने बरूटा जी को नहीं छोडा, बल्कि वे उनके साथ ही रहे और त्रिवणी में जयजी साथ काम करते थे। रामेश्वर बरूटा ने अपने साक्षात्कार मे इस बात का उल्लेख किया है, कि जयजी पोटेट बहुत अच्छा करते थे और उन्होंने मेरे साथ त्रिवेणी में काफी समय काम भी किया है।[9]

परम्परा से अर्थ रूढ़िवादी होना कदापि नहीं है और जयजी इस बात को भली–भांति समझते थे। उन्होंने परम्परा का पालन करते हुए उसमें नवीन संकल्पनाओं का समेश भी किया, जिससे परम्परा को विकसित रूप प्रदान किया जा सके। इस सम्बन्ध में प्राणानाथ मागों लिखते हैं, कि– जय ने पर्शियन, मुगल और चीनी रूढ़ियों की भी उपेक्षा की है, जबकि इनमें आकर्षण तथा कलागत गुण अपनी संपूर्णता में देखे जा सकते हैं। उसके रेखांकनों में सूचना आकार सपाट सतह पर अत्यंत कलात्मक भव्यता से चित्रित हुआ है लेकिन यह भी एक तरह की रूढ़ि है, निजी रूढ़ि है क्योंकि वह इसे एक विचित्र रूपाकार प्रदान करता है और तब रेखांकन जय की जकड़न को त्याग कर अपनी कलात्मक स्वतंत्रता का प्रयोग किया है। हमें याद रखना होगा कि कला और समन्वित वैज्ञानिक सिद्धांत समान चीजें नहीं है। जय तो वैसे भी अपनी निजी रूढ़ियों के अनुरूप अपने चित्र को परिभाषित करना चाहता है।[5] जयजी भावनात्मक रूप से अपनी परम्परा से जुडे थे और इसके साथ–साथ उन्होंने आधुनिक बदलावों को भी अपनी कलात्मकता और रचनात्मक प्रवृत्ति के रूप से

स्वीकार किया। इसीलिए जयजी की कला अनुकरणत्मकता के प्रभाव से बची रही और उनके हर काम परम्परा ये जुडे होने के बाद भी आधुनिकता और सकमकालीन कला प्रवृत्तियों के बीच विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सका।

इसी प्रकार जयजी ने एक गुरू में भी उसी परम्परा का निर्वहन किया, जिस पराम्परा व पद्धति से उन्होंनें शिक्षा प्राप्त की थी। जयजी ने ही कभी अपने आप को या अपनी विचारधारा को किसी पर थोपा और न ही उन्होंने किसी का अंधानुकरण किया। उनकी चित्रक शैली, रंगों और रेखाओं में जो प्रवाह रहा है, जो स्वतंत्रता और निश्चतला रही है वही उनके जीवन में भी दिखाई देती है। जिस प्रकार रेखाएँ आगे बढ़ते हुई अपने लचीलेपन से, अपनी गोलाईयों तथा वक्रता से किसी आकार व स्वरूप में परिवर्तित हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार जयजी के परम्परावादी दर्शनपरक् विचार उनकी चित्र शैली में तो दिखाई देते ही हैं साथ ही उनके जीवन में भीं रेखाओं का उतार–चढाव जीवन के सुख–दुःखात्मक क्षणों की याद दिलाते है, जो प्रत्येक मनुष्य से उतना ही जुड़ा है जितना जयजी से जुडा था। आगे चलकर जयजी के शैली की दृष्टि से या तकनीक रूप से किसी अन्य पाश्चात्य कलाकारों से प्रभावित रहे हों अथवा उन पर किसी का प्रभाव दिखता हो, तो वह समान होती हैं और हर कलाकार अपने–अपने स्तर पर किसी अन्य वरिष्ठ कलाकार से प्रभावित होता है। किन्तु प्रभावित होना और अनुकरण करना दोनों ही बिलकुल ही अलग–अलग बातें हैं। जयजी ने अन्य कलाकारों के खुद पर हुए प्रभाव को निःसंकोच स्वीकार किया, परन्तु उन्होंने किसी को भी अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। इस सम्बन्ध में सौमित्र मोहन का कथन विचारणीय है, जो कि उन्होंने जयजी को लक्षित करते हुए कहे है– एक कलाकार के कामों को हम तभी समझ पायेगें जब हम यह जान पायेंगे कि यहाँ तक पहुँचने में किन–किन पड़ावों को पार किया है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दो तरह के कलाकार होते है। पहले तरह के कलाकार वे होते है। जो प्रचलन में ही फॉलो करते है। अगर प्रतिभाशाली नही है या उनमें कोई अतिरिक्त विशेषता नहीं है, या कोई टेलेंट नहीं है तो कला में कोई योगदान नहीं कर सकते।[10] वे अच्छे कलाकार अवश्य हो सकते हैं परन्तु अपने स्तर तक वो दूसरों पर अपनी कला के माध्यम से प्रभव नहीं डाल पायेंगे प्रभाव डाल पाता है, जो चलन में जो प्रवृत्तियाँ है या जो इलिमेंट्स हैं उनको तोड़कर कुछ नया करे। एक अपनी ही तरह की कला–भाषा को जन्म दे तो ऐसे ही लोग निरन्तर अपना योगदान दे सकते हैं समकालीन कला में जयजी का वही था कि वे रूट की तलाश करते थे कला में जयजी की अपनी अवषेशता थी और समकालीन कला की दृश्टि से हम इसे एक योगदान के रूप में भी देख सकते है, युवा पीढ़ी वास्वत में मनी माईण्डेड हो गई है। उन्हें जयजी और इन जैसे कालकारों की वास्वविकता को जानना चाहिए। कोई कलाकार ऐसे ही नही बन जाता। अनुषासन के साथ–साथ परम्परा की निर्वाह करना भी जरूरी है और अपने मानवीय मूल्यों का समझते हुए कला में आगे बढ़ना ही वास्तव में कलाकार का नैसर्गिक कर्त्तव्य है जो जयजी में साफ दिखाई देता है।[7] वेदप्रकाष भारद्वाज के विचार भी सौमित्र मोहन के विचारों से साम्य प्रतीत होते हैं, जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय में भी की गई है, कि एक कलाकार अपने समय, अपने समाज मे जो कुछ देखता–अनुभव करता है, वह कलाकार के अनुभव में षामिल होकर एक नये रूप में सामने आता है। क्योंकि वह अपने अनुभव को बेहतर तरीके से नये रूप में अभिव्यक्त करता है।

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.10

भारतीय चित्रकला परम्परा और आधार के सन्दर्भ में सैदय हैदय रज़ा का मत प्रासंगिक जान पड़ता है, कि इस दिशा में भी बहुत–सा काम हो रहा है, जो कि शुद्ध पारमपारिक कहा जा सकता है। लेकिन धार्मिक मनोवृत्ति में 'रिचुअल्स' को ज्यादा महत्त्व देगे या उसे जो धर्म का भीतरी सार है? मेरा ख्याल है, धर्म मूल सार पर अधिका बल देना चाहिए। हमारा समय ऐसा बदल रहा है, जिसमें हमे भावना का उभारना चाहिए जो अमूर्त हो स्वरूप मात्रा रिचुअल्स (कर्मकाण्ड) का चित्रण नहीं। लीलाओ, पौराणिक आख्यानों का नही, उनके भीतर छिपी आस्था या अन्य दूसरी भावनाओं का।

भारतीयता–

भारतीय चिकला में 20वीं शताब्दी से लेकर बाद के दशकों में ऐसे बहुत से कलाकार मिलते है, जिन्होंने कला की शिक्षा पहले भारत से ली और बाद में यूरोप या अन्य देशों में जाकर वहाँ की तकनीक सीखकर भारत आये। उनमें से कुछ कलाकार तो भारत से बाहर ही अन्य देशों में बस गये। कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उन कलाकारों में भारतीय कला या भारत के प्रति प्रेम और अपनापन नहीं किन्तु विद्यार्थी वर्ग और युवा कलाकारों को ये बात आकर्षिक करती है है, कि अमुक कलाकार विदेश में पढ़कर आया है, वहाँ से कला की शिक्षा प्राप्त की यदि कोई कलाकार विदेश में शिक्षा प्राप्त कर लेता है। तो ही वह कलाकार बन पायेगा, ऐसा कदापि नहीं है और इस स्पष्ट और प्रामाणित उदाहरण जय झरोटिया के रूप में युवा कलाकारों के समक्ष उपस्थित है।[11]

जयजी ने जितने भी चित्र बनाये या चित्र–श्रृंखलायें निर्मित की वे सभी भारतीय विषयों पर आधारित है। लुकमान, पृथ्वी, प्रकृति, जोकर, गधा इन सभी चित्र श्रृंखलाओं में भारतीयता का स्पष्ट बोध होता है। इनमें से प्रत्येक चित्र भारतीय समाज, नारी, पिता जैसे चरित्रों की भावाभिव्यक्ति करता दिखाई देता है, तो दूसरी ओर ये चित्र तकनीक की आधुनिकता भी उनमें स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जयजी के कुछ चित्रों में मंदिर दिखाया गया है, जो भारतीय आध्यात्म का प्रतीक है। तो वहीं कुछ चित्रों में पृथ्वी धीरे–धीरे लुप्त प्रकृति को नारी के रूप में दिखाने का प्रयास किया गया है। उल्लेखनीय है कि भारतीय आध्यात्म में प्रकृति की पूजा की जाती है उसे देवता के रूप में स्थान दिया गया है। जयजी ने जिस प्रकार अपने विषयों का चयन किया है, उनमें भारतीय आध्यात्मक और दर्शनवादी विचारधारा के दर्शन सहज ही हो जाते हैं और चित्रों में निहित रास्यात्मकता दर्शन को अपनी कल्पनाओं की एक लम्बी यात्रा पर ले जाने में सक्षम दिखाई देती है। जय के रेखांकनों में कलात्मक गुण, रेखांकन के अवयवों के परम्परा सम्बन्ध पर प्रमुख से बल रहता है। और यह कला की सारभूत पहचान है। भावात्मक प्रतिक्रिया को जागृत करने वाले ये रेखांकिन जैविक ऊर्जा से भरपूर हैं और दर्शक के मन में आश्चार्य व कौतुक का संचार करते है।

एक गुरू के रूप भी जयजी ने कला शिक्षा के भारतीय पक्ष को ही विशेषता और प्रमुखता दी है। जैसा कि पिछले अध्यायों में चर्चा की गई थी, कि जयजी कला शिक्षा में भारतीयता के पक्षधर थे। यहाँ प्रसिद्ध चित्रकार सैयद हैदर रज़ा की एक बात का उल्लेख आवश्यक है और प्रासंगिक भी, जो उन्होंने अपने एक साक्षात्कार में कही है। कि वर्तमान के भारत के अनेकानेक कलाकरों द्वारा किया जा रहा है। चित्राकर्म ही समकालीन भारतीय चित्रकला की समृद्धि का मूलाधार है, चाहे वे कलाकार यथाथवादी हो, आकृतिवादी हो या फिर अमूर्तवादी। रज़ा अपनी

आशावादी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए कहते है, कि एक दिन ऐसा आयेगा जब हम भारतीय कला पर अभिमान कर सकेगे। निश्चित रूप से रज़ा ने जिस भावी भारतीय कला की कल्पना की है, जयजी की भारतीय संकल्पना, विचारधारा और व्यक्तित्व में वे बातें साफ तौर पर दिखाई देती है। जय ने भले ही तकनीकी रूप से शैली में विविधता और तरह–तरह के माध्यम अपनाये हो, परन्तु उन्होंने कभी भी अपनी आत्मचेतना और स्वस्फूर्त विचारों का साथ नहीं छोड़ा समकालीन भारतीय कला के विकास में ये बातें महत्त्व रखती हैं।[12] क्योंकि कलाकार के अपने विचार, संकल्पना और अभिव्यक्ति बाहरी दुनिया के लिए आकर्षण के केन्द्र होते हैं। यहाँ निजता के साथ स्वतंत्र चित्रण का अपना ही अनन्द है और यही सत्य भी है। जर्मन चित्रकला और सौन्दर्यशास्त्री हेगेल का विचार समीचीन प्रतीत होता है। वे कहते है कला में हमारा वास्ता सत्य के उद्घाटन से होता है, जो जगत के प्राकृतिक इतिहास तक ही सीमित नहीं होता है सत्य का एक सा उद्घाटन इस इतिहास का सर्वोत्तम पक्ष और वास्तव में भारी श्रम एवं संज्ञान के अत्यन्त कठिन श्रम का सर्वोत्तम पुरस्कार है। कला की भूमिका अपने और अपनी स्वतंत्रता के बारे में सच्चाई को ध्यान में रखना है, जिस हम अक्सर अपनी रोजमर्रा की गतिविधि में खो देते है। इसकी भूमिका स्वतंत्रता के वास्तविक चरित्र को दिखाना है। अतएव पश्चात्य का अनुकरण व्यर्थ है, कलाकार की अपनी निजता जिसे जयजी 'भारतीयता' कहते है, की आत्माभिव्यक्ति ही कला में नये सन्दर्भों का सूत्रपात कर सकेगी।

प्रयोगधर्मी–

यहाँ 'धर्मी' तात्पर्य किसी धर्म सम्प्रदाय ने नहीं अपितु 'प्रवृत्ति' से यह शब्द भरत ने भी प्रयुक्त किया है लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। यहाँ धर्मी शब्द से भरत का भी अभिप्राय प्रवृत्ति से ही है और मुनि इसे प्रयोग के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किया है। अर्थात् धर्मी का एक अर्थ प्रयोग से भी है जिसे लोक की दृष्टि से प्रयुक्त किया जाए अथवा शास्त्र की दृष्टि से इनका परिणाम किये गये प्रयोग के आधार पर प्राप्त होगा। अतः भले ही भरत द्वारा प्रयुक्त धर्मी शब्द का सन्दर्भ नाट्य से रहा हो, परन्तु उन्होंने भी इसे कहीं न कहीं प्रयोग की दृष्टि से प्रयुक्त किया है।

पूर्व स्थापित किसी परम्परा को नये सन्दर्भों में प्रस्तुत करना है, तो निश्चित रूप से उसमें कुछ–न–कुछ परिवर्तन आवश्यक होगा। तभी वह नये सन्दर्भों में प्रस्तुत हो सकेगा। इस परिवर्तन में प्रयोग और संकल्पना दोनों का ही समावेश होना अनिवार्य है। मूल स्वरूप क्या है और इसे नए रूप में प्रस्तुत करने के कारण क्या है, क्या संकल्पना है, यह पता होना चाहिए। जैसा कि पहले भी कहा गया है पिछले अध्यायों में, कि कुछ रेखायें खींच देना या रंग लगा देना मात्र ही कला नहीं है उसके पीछे एक सोच, एक विचारधारा होनी चाहिए।

जयजी के चित्रों में उनकी प्रयोगधर्मिता उनके प्रारंभिक चित्रों से लेकर आज तक के चित्रों में विशिष्ट रूप से दिखाई देती है। जैसे पहले वेदप्रकाश भारद्वाज जी ने कहा कि जयजी ने जिस बकरी का चित्र बनाया, वह पूरी तरह से जयजी की ही बकरी है। बकरी के चित्र में एक प्रयोगधर्मी दर्शवादी विचारधारा का समावेश होकर वह जिस स्वरूप को प्राप्त हुई है, उससे केवल पशु मात्र नहीं रह गयी, बल्कि एक विचार बन चुकी है।[13]

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.10

सौमित्र मोहन ने भी साक्षात्कार के दौरान बताया था कि जयजी ने उनकी 'लुकमान अली' कविता पर जो चित्र श्रृंखला तैयार की वह 'लुकमान' जयजी का लुकमान था। क्योंकि कवि की कल्पना और कलकार की विचारधरा के समिश्रमण से बनी उन आकृतियों में कविता के लुकमान से कुछ अलग है, वो जयजी का लुकमान है। किन्तु आत्मा दोनों की एक ही है।

जयजी ने अपनी भावाभिव्यक्ति को उद्घाटित करने के लिए कभी–भी कोई मापदण्ड तय नहीं किया। उन्होंने अपने प्रयोगों को माध्यम की बेड़ियो से मुक्त रखते हुए प्रस्तुत किया है। अब चाहे चित्र हो, रेखांकन हो या फिर कविता अलग–अलग माध्यम होते हुए भी जयजी की कला में जो प्रवाह और भावों की तारतम्यता दिखाई देती है वह विलक्षण है। जयजी की कला अनुकरणात्मकता से कोसों दूर है।[14]

वास्तव मे प्रयोग की प्रवृत्ति विचारों से उत्पन्न होती है और विचार चर्चा से उपजते है। जयजी ने जे. स्वामीनाथन् रामेश्वर बरूटा, प्राणनाथ मागो आदि कलाकारों के साथ–साथ कला समीक्षकों और समकालीन कलाकारों के सतत् सम्पर्क में रहा करते थे। इन सभी से जयजी की कला विषय पर निरन्तर चर्चा होती थी, जैसा कि मोती झरोटिया आदि अन्य विद्ववानों ने भी बताया है कि जयजी अधिकांशतः अपना काम करते रहते या फिर समकालीन कलाकरों और समीक्षकों से कला पर चर्चा करना उनकी नियमित दिनचर्या थी। जयजी का मानना था कि चर्चा से ही विचारों का जन्म होता है, जिसके कारण प्रयोग करने के नये–नये सन्दर्भ का खुलासा होता है। परन्तु वेदप्रकाश भारद्वाज, सौमित्र मोहन, रामेश्वर बरूटा आदि सभी ने यह बात एकमत से स्वीकार की है कि युवा कलाकारों में विचारों की कमी इसीलिए दिखाई देती है, क्योंकि वे कला पर चर्चा करने से बचते है। कहीं चर्चा होती भी है तो वहाँ विषय कला न होकर उसकी प्रदर्शनी और बाजार पर होती है। कला समीक्षक केशव मलिक ने अवने एक साक्षात्कार के दौरान इस विषय पर अपने विचार प्रकट किए है, जिसका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक जा पड़ता है।[15] वे कहते है कलाकारों के बीच मित्रता और संवाद खत्म हो चुका है। विवाद होना अच्छी बात है, बहस इस पर हो रही है, कि किसे कौन–सी गैलरी मिल गई। नीलामी में किसे शामिल किया गया। विचारधारा की राजनीति निती स्तर पर हो गई है।

संदर्भ

1. मागो, प्राणनाथ, स्वप्नलोक के रेखांकन जय झरोटिया की ड्राईंग, अनुवाद– सौमित्र मोहन, 'समकालीन कला', ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, अंक–29, मार्च 2006, जून–2006, पृ0सं0 65–66
2. सरल, मनमोहन, कला क्षेत्रे, महाराष्ट्र साहित्य अकादमी के सहयोग से प्रकाशित, पृ0सं0–2004, पृ0सं0 35
3. बाजपेयी, अशोक, अभिव्यक्ति की बहुलता ही समकालीन भारतीय कला की समृद्धि का आधार है, समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, अंक–21, फरवरी–मई 2002, पृ0सं0 12
4. कुमार, विनय, प्रयोगधर्मिता और साक्ष्य की आत्माः परितोष सेन, 'समकालीन कला', ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, अंक–34, नवम्बर 2007, फरवरी–2008, पृ0सं0 23

5. झरोटिया, जय, जय झरोटियारू पेंटिंग्स एंड ड्रॉइंग्स. ललित कला अकादमी, 2003, पृ0सं0 12
6. कुमार, शिवाजी के, "समकालीन भारतीय आलंकारिक कला." ललित कला कंटेम्पररी, खंड 48, 2006, पृ0सं0 67
7. कपूर, गीता, व्हेन वॉज़ मॉडर्निज़्म. तुलिका बुक्स, 2000, पृ0सं0 214
8. क्रमरिश, स्टेला, भारतीय समकालीन कला का अन्वेषण. मोतीलाल बनारसीदास, 1999, पृ0सं0 156
9. सुंदरम, विवान, "आधुनिक भारतीय कला में कथ्य और प्रतीक." आर्ट इंडिया, खंड 7, अंक 2, 2003, पृ0सं0 41
10. जैन, ज्योतिंद्र, भारतीय कला एक अवलोकन. नेशनल म्यूज़ियम, 2001, पृ0सं0 98
11. लाल, अनिल, "जय झरोटिया के कार्यों में फिगरेशन और फैंटेसी." जर्नल ऑफ़ इंडियन आर्ट हिस्ट्री, खंड 15, 2008, पृ0सं0 29
12. ललित कला अकादमी, समकालीन कला में राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता, ललित कला अकादमी, 2005, पृ0सं0 73
13. सिंह, रामेश्वर, समकालीन भारतीय कला, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ0सं0 184
14. झरोटिया, जय, जय झरोटियाः पेंटिंग्स एंड ड्रॉइंग्स, ललित कला अकादमी, 2003, पृ0सं0 12
15. सिंह, रामेश्वर, समकालीन भारतीय कला, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ0सं0 184